न्याय की रचना और प्रकृति

इंद्रजीत कुमार झा

स्केलिंग जस्टिस : इण्डियाज़ सुप्रीम कोर्ट, ऐंटी टेरर लॉज, ऐंड सोशल राइट्स
शैलश्री शंकर
ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस,
नयी दिल्ली, 2009, पृ. 230.

आम तौर पर न्याय एवं क़ानून को एक-दूसरे से जोड़ कर देखा जाता है। माना जाता है कि न्यायाधीश किसी पक्षपात या राग-द्वेष के बिना संविधान और क़ानून के अनुसार अपना निर्णय देते हैं या उन्हें देना चाहिए। लेकिन क्या केवल क़ानून के आधार पर बिल्कुल तटस्थ हो कर न्याय प्रदान किया जा सकता है? सर्वोच्च न्यायालय के सेवानिवृत्त न्यायाधीश और विधि आयोग के पूर्व अध्यक्ष न्यायाधीश डी.ए. देसाई सूरत स्थित सेंटर फॉर सोशल स्टडीज़ के लिए लिखे गये अपने वैचारिक पर्चे में क़ानून के आधार पर न्याय प्रदान करना महज़ एक कपोल-कल्पना मानते हैं।[1] उनके अनुसार न्याय प्रदान करने का कार्य किसी कम्प्यूटर की भाँति महज़ एक तकनीकी कार्यप्रणाली नहीं है। यदि ऐसा होता तो हमें किसी न्यायाधीश की ज़रूरत नहीं होती। हम सीधे कम्प्यूटर में सारे तथ्य डाल कर स्क्रीन पर निष्कर्ष पढ़ लेते। एक उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि मान लीजिए कोई व्यक्ति क, ख के ख़िलाफ़ किसी न्यायालय में जाता है और अपने अधिकारों की रक्षा के लिए अर्ज़ी दायर करता है। न्यायालय उसके पक्ष में निर्णय दे देता है। फिर ख उस फ़ैसले के ख़िलाफ़ जिला न्यायालय में अर्ज़ी दायर करता है और ज़िला न्यायालय ट्रायल कोर्ट के फ़ैसले को पलटते हुए

---

[1] डी.ए. देसाई (1998), 'कंसर्न फ़ॉर सोशल जस्टिस', घनश्याम शाह (सम्पा.) *सोशल जस्टिस : ए डायलॉग,* रावत पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली : 53.

ख के पक्ष में फ़ैसला दे देता है। फिर क ज़िला न्यायालय के फ़ैसले के ख़िलाफ़ उच्च न्यायालय में जाता है और उच्च न्यायालय निचली अदालत के निर्णय को ही पुन:स्थापित कर देता है। इसके बाद ख उच्च न्यायालय के फ़ैसले को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती देता है और सर्वोच्च न्यायालय उच्च न्यायालय के निर्णय को पलट देता है। यदि न्याय निरपेक्ष है तो फिर समान तथ्यों और क़ानूनों के बावजूद इस प्रकार के अलग-अलग निर्णय क्यों सामने आते हैं?[2] इतना ही नहीं, सिर्फ़ सर्वोच्च न्यायालय को ही देखें तो एक ही क़ानूनी संरचना के अंतर्गत समय-समय पर इसकी व्याख्याओं में भी अंतर देखने के लिए मिलता है। यद्यपि यहाँ न्यायाधीश देसाई न्याय के संबंध में एक न्यायाधीश की, स्वयं की समझ काफ़ी महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वे ख़ुद यह स्वीकार करते हैं कि एक न्यायाधीश के रूप में कार्य करते हुए उन्होंने जो भी फ़ैसले दिये वे सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन का लक्ष्य ध्यान में रखते हुए ग़रीबों एवं शोषितों के हित में न्याय संबंधित अपनी छठी इंद्री की समझ के आधार पर दिये।[3]

यहाँ इतना तो स्पष्ट है कि न्यायाधीशों के निर्णय का आधार केवल क़ानून नहीं होता, बल्कि उनके अपने दृष्टिकोण और समझ की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इसी दृष्टिकोण या समझ के आधार पर न्यायालय के कई ऐसे भी निर्णय देखने को मिलते हैं जो अलिखित संविधान पर आधारित होते हैं तथा अलिखित संविधान पर आधारित ये निर्णय भी आगे चल कर एक विधिक तर्कशास्त्र का निर्माण कर देते हैं जिसके आधार पर आगे भी निर्णय लिए जाते हैं। यदि हम न्यायालय के निर्णयों को केवल विद्यमान क़ानूनों के दायरे में ही रख कर देखेंगे तो सामाजिक अधिकार से संबंधित कई ऐसे निर्णयों की व्याख्या नहीं कर पाएँगे जो अलिखित संविधान के आधार पर दिये जाते हैं। ये निर्णय न्यायाधीशों के द्वारा की जाने वाली क़ानून की व्याख्या पर भी निर्भर करते हैं और इसी व्याख्या के आधार पर न्यायाधीश अपने निर्णय को एक तार्किक क़ानूनी आधार के मानदण्ड पर स्थापित करते हैं। लेकिन सवाल यह है कि क्या न्याय को लेकर सभी न्यायाधीशों की मान्यता एक जैसी होती है? समस्या तब और भी गम्भीर हो जाती है जब हम हाल के वर्षों में सामने आये शोध-अध्ययनों, समाचार-पत्रों और ख़ुद सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों को देखते हैं जिसने भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की कई विरोधाभासी तस्वीर प्रस्तुत की है। इसमें सक्रिय न्यायाधीश से लेकर, राजनीति से प्रेरित, सरकार-विरोधी, ग़रीब-विरोधी, नीति-निर्माता, अप्रभावी, भ्रष्ट, अराजनीतिक एवं निष्पक्ष जैसी कई छवियाँ सम्मिलित हैं। इसलिए सवाल उत्पन्न होता है कि ऐसे में एक न्यायाधीश द्वारा किसी वाद में निर्णय तक पहुँचने की प्रक्रिया को किस प्रकार समझा जा सकता है? या वे कौन-कौन सी परिस्थितियाँ या तत्व हैं जो न्यायालय के निर्णय को प्रभावित करते हैं?

वस्तुत: न्यायाधीशों के निर्णय और उसको प्रभावित करने वाले कारक, न्यायशास्त्र के दर्शन (फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ ज्युरिसप्रुडेंस) में एक लम्बी बहस का मुद्दा रहा है और इस पर काफ़ी कुछ लिखा भी गया है। अमेरिकी राजनीतिक चिंतक रॉबर्ट डाह्ल ने 1957 में प्रकाशित अपने एक लेख में अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय द्वारा लिए जाने वाले निर्णयों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय शासकीय नीतियों के राजनीतिक पहलुओं की वैधता स्थापित करते हैं। इनसे राष्ट्रपति के पद एवं कांग्रेस में बहुमत वाली पार्टी का पक्ष ही पुष्ट होता है। यहाँ डाह्ल ने इसकी कई वजहें बताई हैं। उनके अनुसार न्यायालय को अपनी वैधता स्थापित करने के लिए सामाजिक समर्थन की आवश्यकता होती है। सत्ता में बैठी सरकार

[2] डी.ए. देसाई, वही : 26-27.

[3] डी. ए. देसाई, वही : 26-27.

को जनता के बहुमत का समर्थन होता है तथा साथ ही न्यायालय को अपनी नीतियाँ कार्यान्वित करवाने के लिए भी कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका पर निर्भर रहना पड़ता है। यहाँ तक कि न्यायालय के पास न्यायिक पुर्नवलोकन की शक्ति होने के बावजूद भी न्यायालय सरकार की किसी नीति को तब तक असंवैधानिक नहीं बता सकता जब तक समाज में इसके प्रति असंतोष न हो एवं कोई न्यायालय में इसके ख़िलाफ़ याचिका दायर न करे। इस तरह से किसी मामले में पहल करने के लिए भी न्यायालय के पास सीमित शक्ति ही होती है। इतना ही नहीं हर दो साल में न्यायालय के कुछ न्यायाधीशों की नियुक्ति सरकार की इच्छा पर निर्भर होता है अतः नियुक्ति के पश्चात् न्यायाधीश इसके ऐवज में भी उस सरकार के पक्ष में कार्य करते हैं। इन्हीं वजहों से न्यायालय के बहुमत का निर्णय सरकार के पक्ष में होता है जिससे उसकी शक्ति, प्रतिष्ठा एवं वैधता स्थापित होती है।[4]

क्या इसका तात्पर्य यह है कि न्यायाधीश क़ानून से परे तत्त्वों जैसे राजनीतिक एवं वैचारिक प्रभाव के अंतर्गत कार्य करते हैं? जॉर्ज एच. गेडबॉयज़ जूनियर ने 1969 में भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की सामाजिक एवं आर्थिक पृष्ठभूमि का अध्ययन किया है। इन्होंने इन न्यायाधीशों के धर्म, जाति, शिक्षा, कैरियर पैटर्न, उम्र एवं कार्यकाल, राजनीतिक पृष्ठभूमि, क्षेत्रीय पहचान तथा अवकाश के बाद उनमें से कइयों के विभिन्न पदों पर होने वाली नियुक्ति आदि का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। गेडबॉयज़ के अनुसार प्रथम दशक में न्यायालय के 93 प्रतिशत निर्णयों में न्यायाधीशों की राय एक समान थी। इसका कारण उनकी एक समान सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि का होना था।[5]

इसका तात्पर्य यह है कि न्यायाधीशों की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि उसके निर्णयों को प्रभावित करती है। यह इस बात से भी स्पष्ट हो जाता है कि कई मामलों में केवल न्यायाधीशों के नाम जानकर ही काफ़ी हद तक अनुमान लगाया जा सकता है कि इस मामले में क्या निर्णय दिये गये होंगे।[6] लेकिन यह हमेशा उपयुक्त नहीं हो सकता है। इस परिकल्पना को स्वीकार करने का मतलब होगा कि उच्चवर्गीय पृष्ठभूमि के न्यायाधीशों को ग़रीब एवं आम लोगों का विरोधी मान लिया जाए, जो कि सही नहीं है। फिर न्यायाधीशों के निर्णय किन बातों से प्रभावित होते हैं?

न्याय प्रदान करने का कार्य किसी कम्प्यूटर की भाँति महज़ एक तकनीकी कार्यप्रणाली नहीं है। यदि ऐसा होता तो हमें किसी न्यायाधीश की ज़रूरत नहीं होती। हम सीधे कम्प्यूटर में सारे तथ्य डाल कर स्क्रीन पर निष्कर्ष पढ़ लेते। ... कई ऐसे भी निर्णय देखने को मिलते हैं जो अलिखित संविधान पर आधारित होते हैं ... ये निर्णय भी आगे चल कर एक विधिक तर्कशास्त्र का निर्माण कर देते हैं जिसके आधार पर आगे भी निर्णय लिए जाते हैं।

[4] रॉबर्ट ए. डाह्ल (1957), 'डिसीज़न मेकिंग इन ए डेमाक्रैसी : द सुप्रीम कोर्ट ऐज़ ए नैशनल पॉलिसी-मेकर', *जर्नल ऑफ़ पब्लिक लॉ,* खण्ड 1, अंक 2 : 279-295.

[5] जॉर्ज एच. गेडबॉयज़ जू. (1969), 'इण्डियन सुप्रीम कोर्ट जजेज़ : ए पोर्ट्रेट', लॉ ऐंड सोसाइटी रिव्यू, खण्ड 3, अंक 2/3 : 317-336.

[6] इसके उदाहरण के रूप में हम वी.आर. कृष्ण अय्यर एवं डी.ए. देसाई द्वारा दिये गये निर्णय देख सकते हैं। देखें, शेलश्री शंकर (2009), *स्केलिंग जस्टिस : इण्डियाज़ सुप्रीम कोर्ट, ऐंटी टेरर लॉ ऐंड सोशल राइट्स,* नयी दिल्ली : ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

संधिकर्त्ता या वार्ताकार के रूप में न्यायाधीश

शैलश्री शंकर की किताब *स्केलिंग जस्टिस : इण्डियाज़ सुप्रीम कोर्ट, ऐंटी टेरर लॉज़, ऐंड सोशल राइट्स,* न्यायशास्त्र के अंतर्गत न्यायाधीशों के निर्णय और उसे प्रभावित करने वाले कारकों को लेकर चलने वाली बहस में एक मील का पत्थर प्रतीत होती है। निवारक निरोध, आतंक विरोधी क़ानून, स्वास्थ्य एवं शिक्षा से संबंधित भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों के बारीक़ी से किये गये अपने अध्ययन के अंतर्गत शैलश्री शंकर ने दो बातों की पड़ताल की है : पहली, न्यायाधीशों की पसंद (पसंदीदा निर्णय) निर्धारित करने वाले तत्त्व और दूसरी, भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की सक्रियता का अंकन।

शंकर ने अपनी इस किताब में न्यायाधीशों को एक संधिकर्त्ता या वार्त्ताकार (निगोशिएटर) के रूप में देखा है। उनके अनुसार न्यायिक निर्णय की गढ़ंत समझने के तीनों परम्परागत मॉडल (लीगल, एटीट्यूडनल एवं इंस्टीट्यूशनल) अमेरिका के न्यायिक राजनीतिक अध्ययन के मुताबिक़ हैं तथा इनके द्वारा उत्तर आपातकाल में भारतीय न्यायिक व्यवस्था के निर्णयों का अध्ययन ठीक से नहीं किया जा सकता। लीगल मॉडल संवैधानिक प्रावधानों पर बल देता है तथा इसके द्वारा इस बात का विश्लेषण नहीं किया जा सकता है कि अस्सी के दशक में न्यायालय ने नॉन-जस्टिसिएबिल सामाजिक अधिकारों को क्यों मौलिक अधिकारों के रूप में परिवर्तित कर दिया। दूसरी तरफ़ एटीट्यूडनल मॉडल में न्यायाधीशों की विचारधारा पर ध्यान दिया जाता है। भारतीय राजनीतिक परिवेश में न्यायाधीशों के वैचारिक पूर्वग्रहों का व्यवस्थित रूप से आकलन कर पाना काफ़ी कठिन कार्य है। जहाँ तक इंस्टीट्यूशनलिस्ट एप्रोच की बात है, तो यह क़ानून के साथ संस्थात्मक नियमों पर बल देते हुए न्यायिक चयन (ज्यूडिशियल चॉयस) को सूक्ष्म तरीक़े से समझने में मदद तो करता है, लेकिन यह राजनीतिक एवं सार्वजनिक परिस्थितियों से उत्पन्न विकल्पों (चॉयस) के महत्त्व को कम कर देता है। शैलश्री शंकर की समझौतावादी एप्रोच काफ़ी हद तक इंस्टीट्यूशनलिस्ट मॉडल की सूक्ष्म बातों पर ही आधारित है। इसी को एक नये रूप में ढाल कर उन्होंने न्यायिक निर्णय की रचना का गतिशील मॉडल स्थापित करने का प्रयास किया है। इस मॉडल के अंतर्गत न्यायाधीशों को एक ऐसे संधिकर्ता या वार्ताकार के रूप में देखा जाता है जो एक ख़ास तरह की संस्थात्मक एवं विधिक परिस्थितियों से घिरा होता है तथा जिसके पास राजनीतिक विन्यास एवं लोगों के लिए महत्त्वपूर्ण समझे जाने वाले सरोकारों के साथ कुछ निश्चित शर्तों के अधीन समायोजन करने की क्षमता होती है। शंकर के अनुसार किसी वाद में निर्णय लेते समय कोई न्यायाधीश चार चीज़ों के साथ समायोजन करता है : क़ानून का ढाँचा, संस्थात्मक मानक एवं स्मृतियाँ, राजनीतिक प्रभाव तथा जनता के सरोकार। इनमें से प्रत्येक तत्त्व अपनी सीमाओं और अवसरों के मातहत होने के साथ-साथ किसी न किसी एक प्रभाव के प्रतिकूल होता है।[7]

शंकर के अनुसार न्यायाधीशों के व्यक्तित्व या पहचान में भी भिन्नता होती है। वे राज्य की संस्था का अंग भी होते हैं, न्यायिक संरचना के अंग भी होते हैं, उनके अपने मानक होते हैं, वे एक नागरिक भी होते हैं और समाज के एक सदस्य भी होते हैं। उनके अनुसार निर्णयन

---

[7] संविधान की तीसरी अनुसूची के अंतर्गत जहाँ संघ या राज्य के मंत्रियों को पद-धारण करने से पूर्व किसी भी प्रकार के भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना संविधान और क़ानून के अनुसार सभी लोगों के साथ न्याय करने का शपथ दिलाने का प्रावधान है, वहीं सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों को संविधान और विधियों की मर्यादा बनाये रखते हुए किसी भी प्रकार के भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना अपनी योग्यता, ज्ञान और विवेक से अपने पद के कर्त्तव्यों के पालन का निर्देश दिया गया है।

की प्रक्रिया के अंतर्गत एक न्यायाधीश के इन सभी व्यक्तित्वों या अस्मिता-बहुलता के बीच लगातार संधि-वार्ता चलती रहती है। न्यायाधीशगण समाज और राजनीति से कटे हुए नहीं होते। बल्कि वे राजनीतिक दाँव-पेंच (चालबाज़ियों), जनता की राय और राष्ट्रीय संकट के प्रभावों में होने वाले उतार-चढ़ाव के प्रति काफ़ी संवेदनशील होते हैं। शंकर के अनुसार भारतीय सर्वोच्च न्यायालय व्यावहारिक और निष्पक्ष (अधिकांश मामलों में) व्यक्तियों से मिल कर बना निकाय है जिनके लिए निर्णयन की प्रक्रिया एक समस्या समाधान के साथ-साथ अपने सहकर्मियों, वकील-समुदाय (बार), निर्वाचित प्रतिनिधियों, राज्य की अन्य एजेंसियों तथा जन-सामान्य के साथ अच्छे संबंधों को बनाये रखने का मामला है। उनके अनुसार पिछले छह दशक में देश के न्यायाधीशों ने चारों तत्त्वों के बीच समझौता कर ऐसे निर्णय दिये हैं जो कोई टकराव उत्पन्न करने के बजाय नागरिकों के अधिकार और इच्छाओं का समर्थन करते हों।

न्यायाधीशों के व्यक्तित्व या पहचान में भी भिन्नता होती है। वे राज्य की संस्था का अंग भी होते हैं, न्यायिक संरचना के अंग भी होते हैं, उनके अपने मानक होते हैं, वे एक नागरिक भी होते हैं और समाज के एक सदस्य भी होते हैं। उनके अनुसार निर्णयन की प्रक्रिया के अंतर्गत एक न्यायाधीश के इन सभी व्यक्तित्वों या अस्मिता-बहुलता के बीच लगातार संधि-वार्ता चलती रहती है। न्यायाधीशगण समाज और राजनीति से कटे हुए नहीं होते।

शंकर अपने तर्कों को पुष्ट करने के लिए संवैधानिक एवं विधिक फ्रेमवर्क, महत्त्वपूर्ण निर्णयों और असहमत न्यायाधीशों के विचारों के पाठ्यगत गुणात्मक विश्लेषण को नागरिक एवं सामाजिक अधिकारों से संबंधित वादों के बहुआयामी सांख्यिकीय विश्लेषण के साथ जोड़ कर समझने का प्रयास करती हैं। इसमें राष्ट्रीय सुरक्षा एवं आतंक विरोधी क़ानूनों से संबंधित वादों के साथ-साथ स्वास्थ्य एवं शिक्षा से संबंधित सामाजिक अधिकार को लेकर न्यायालय का एक विस्तृत तथ्यात्मक और आँकड़ागत अध्ययन किया गया है। भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों का ऐसा अध्ययन संभवत: पहली बार देखने में आया है।

न्यायिक सक्रियता का अंकन

अपनी किताब में शैलश्री शंकर ने भारत में न्यायिक सक्रियता को ले कर चलने वाली बहस और उसकी सच्चाई की भी पड़ताल की है। उनके अनुसार उत्तर-आपातकाल में सर्वोच्च न्यायालय के व्यवहार के बारे में यह मान्यता रही है कि सामाजिक अधिकार के मामलों में उसके न्यायाधीशों ने पहलक़दमी दिखाई है। यद्यपि उपेंद्र बख़्शी से लेकर एस.पी. साठे तक सभी विद्वानों ने सक्रियता को लेकर अलग-अलग विचार दिये हैं, लेकिन शंकर के अनुसार इनमें से किसी भी विद्वान ने न्यायालय की इस लक्ष्य अभिमुखी भूमिका को लेकर कोई साक्ष्य नहीं दिया है।

शैलश्री शंकर ने कुछ पश्चिमी विद्वानों द्वारा न्यायिक सक्रियता की परिभाषा का उल्लेख करते हुए दावा किया है कि 'सर्वोच्च न्यायालय सक्रिय न्यायालय' नहीं रहा है। इसके अनुसार न्यायालय की सक्रियता की माप इस बात से होनी चाहिए कि न्यायालय के कितने निर्णय सरकार की कार्यवाही को असंवैधानिक बताते हैं। इस तरह के निर्णय जितने अधिक होंगे उतना ही वे एक सक्रिय न्यायालय को दर्शाएँगे। इस मानदण्ड के मुताबिक़ वे दलील देती हैं कि कम-से-कम आतंकविरोधी, स्वास्थ्य और शिक्षा से संबंधित मामलों में न्यायालय सक्रिय नहीं दिखाई देता है। उन्होंने अपना यह निष्कर्ष

सामाजिक अधिकार एवं सुरक्षा क़ानूनों के संदर्भ में सर्वोच्च न्यायालय के प्रदर्शन के सांख्यिकीय विश्लेषण के आधार पर स्थापित किया है। वे दलील देती हैं कि आतंकविरोधी वादों में 1977 के बाद न्यायाधीश जहाँ ज़्यादातर आरोपी के पक्ष में दिखते हैं वहीं 2001 के बाद वे राज्य के पक्ष में खड़े दिखाई देते हैं। वस्तुत: 1977 के बाद न्यायालय द्वारा अपने उदारतावादी चरित्र को पुन: चमकाने की कोशिश की जा रही थी जो आपातकाल द्वारा कार्यपालिका की अंध-भक्ति के कारण धूमिल पड़ गया था। लेकिन दूसरी तरफ़ 2001 में देश की सम्प्रभुता के प्रतीक संसद पर आतंकी हमला हुआ। इसने न्यायालय को आतंकवाद के मुद्दे पर किसी भी तरह का समझौता न करने और लोगों की भावनाओं के अनुकूल निर्णय देने के लिए प्रेरित किया।

स्वास्थ्य एवं शिक्षा से संबंधित मामलों में शंकर का कहना है कि उच्च न्यायालय एवं सर्वोच्च न्यायालय का इससे संबंधित नीतियों के ऊपर काफ़ी कम प्रभाव दिखाई देता है। उनके अनुसार स्वास्थ्य एवं शिक्षा के मामलों में न्यायाधीशों ने कार्यपालिका द्वारा निर्धारित मार्ग का ही अनुसरण किया है तथा उन्हीं अधिकारों का समर्थन करने का प्रयास किया है जिसका पहले से ही एक क़ानूनी आधार है। न्यायाधीशों ने राज्य के दूसरे अंगों के प्रति भी आस्था व्यक्त की है। अपने सांख्यिकीय विश्लेषण से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर वे दलील देती हैं कि स्वास्थ एवं शिक्षा से संबंधित मामलों में न्यायाधीश सरकारी प्रबंधकों (अधिकारियों) को अपना उत्तरदायित्व न निभाने के लिए सज़ा देने के प्रति अनिच्छुक दिखाई देते हैं। दूसरी तरफ़ ग़ैर-सरकारी एजेंसियाँ भी सामाजिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए याचिका दायर करने की रणनीति पर ज़्यादा ज़ोर नहीं देती हैं क्योंकि याचिका दायर करने की रणनीति में काफ़ी समय लगने के साथ-साथ पैसे भी बहुत ज़्यादा ख़र्च होते हैं और यह कार्रवाई परम्परागत रूप से जनलामबंदी की तुलना में ज़्यादा प्रभावी भी नहीं होती है। इस संदर्भ में शंकर भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक सक्रियता को लेकर स्थापित अवधारणा ख़ारिज करती हैं। शंकर के अनुसार आपातकाल के दौरान सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के अवकाश प्राप्त करने के बाद जैसे-जैसे आपातकाल की स्मृति क्षीण होने लगी, न्यायालयों ने सामाजिक अधिकार के मुद्दों पर पुन: रूढ़िवादी रुख अपनाना शुरू कर दिया।

इन तर्कों के आधार पर शंकर भारतीय न्यायपालिका की सक्रियता को लेकर दी जाने वाली दलीलों को कम से कम राष्ट्रीय सुरक्षा और सामाजिक अधिकार के मामलों में ख़ारिज करती हैं। लेकिन यहाँ कुछ सवाल भी उत्पन्न होते हैं। यद्यपि शंकर सर्वोच्च न्यायालय के सक्रिय रुख को ख़ारिज करती हैं लेकिन न्यायालय के पास इतनी अधिक स्वायत्तता और शक्ति होने के बावजूद आख़िर वे कौन सी वजहें हैं जो न्यायालय को अपनी शक्ति का प्रयोग करने से रोकती रही हैं? सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय अभिलेख न्यायालय होते हैं तथा इसके द्वारा दिये गये किसी एक निर्णय का प्रभाव भी अधीनस्थ न्यायालयों के कई निर्णयों पर पड़ता है। ऐसे में क्या केवल निर्णयों की संख्या के विश्लेषण के आधार पर न्यायिक सक्रियता का अंकन करना सही है?

इसके अतिरिक्त यहाँ शैलश्री शंकर ने न्यायाशीधों की भूमिका को एक वार्ताकार के रूप में देखा है जो चार तत्त्वों, क़ानून का ढाँचा, संस्थात्मक मानक एवं स्मृतियाँ, राजनीतिक प्रभाव तथा जनता के सरोकारों के बीच समझौता करने का प्रयास करते हैं। लेकिन सवाल उत्पन्न होता है कि क्या इन चारों तत्त्वों के अंदर समान रूप से यह क्षमता होती है कि वे किसी निर्णय को समान रूप से प्रभावित कर सकें? यहाँ सवाल यह भी है कि एक संधिकर्ता या वार्ताकार के रूप में क्या एक न्यायाधीश 'न्याय' के तकाज़े को पूरा कर पाता है? संविधान में भी न्यायाधीशों को केवल क़ानून की बजाय अपनी योग्यता, ज्ञान और विवेक से न्याय करने की

अपेक्षा की गयी है। इसलिए न्यायालय के निर्णय चाहे राज्य के समर्थन में हों या राज्य के विरोध में, वे तब तक चिंताजनक नहीं बनते जब तक वे 'न्याय' की परिभाषा के अनुकूल रहते हैं। लेकिन यदि न्यायाधीश अपने प्राथमिक उद्देश्य 'न्याय' की पूर्ति नहीं कर पा रहे हैं तो यह निश्चित ही एक गम्भीर चिंता का विषय बन जाता है। लेकिन इस किताब में जहाँ न्यायिक निर्णयों और न्यायालय की भूमिका का अंकन किया जा रहा है वहाँ न्याय की कसौटी पर निर्णयों की जाँच न करना भी एक अभाव दर्शाता है।

शैलश्री शंकर की इस कृति की कुछ अन्य सीमाएँ भी हैं। इसमें न्यायिक निर्णयों की तो चर्चा की गयी है, लेकिन उन निर्णयों ने समाज को किस हद तक प्रभावित किया, लोगों तक वे अधिकार कहाँ तक पहुँच पाए— इसकी जाँच नहीं की गयी है। यानी शंकर द्वारा किया गया आनुभविक अध्ययन केवल न्यायिक निर्णयों के अध्ययन तक सीमित है। यदि इसमें न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णयों के वास्तविक अनुप्रयोगों को भी शामिल किया जाता तो यह और भी बेहतर हो सकता था। लेकिन इन कमियों के बावजूद यह किताब अपने आप में इस आधार पर अनूठी है कि पहली बार इसमें निर्णयों के सांख्यिकीय विश्लेषणों के आधार पर न्यायालय की भूमिका समझने का प्रयास किया गया है जो इस दिशा में कई नवीन शोध की सम्भावनाएँ खोलता है। इसके अलावा इस किताब में कुछ ऐसे तथ्य भी सामने आये हैं जो आँखें खोलने वाले हैं। जैसे 1993 के बाद भूमण्डलीकरण एवं आर्थिक उदारीकरण की प्रक्रिया की वजह से न्यायाशीधों का रूढ़िवादी रवैये की तरफ़ झुकाव और क़ानून को क्रियान्वित करने वाली एजेंसियों के द्वारा साधारण अपराधियों और ग्रामीण स्तर पर हत्या के आरोपियों के ख़िलाफ़ व्यापक स्तर पर आतंकविरोधी क़ानून और निवारक नज़रबंदी का प्रयोग एक गम्भीर चिंता का विषय है। शंकर के अनुसार आँकड़ों से प्राप्त साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि राष्ट्रीय सुरक्षा से संबंधित मामलों में केवल 42 प्रतिशत ही ऐसे केस दिखाई देते हैं जिसमें तकनीकी रूप से टेरॅरिस्ट ऐंड डिसरप्टिव एक्टिविटी (टाडा) या अन्य सुरक्षा क़ानूनों के अंतर्गत केस दर्ज किये जाने चाहिए थे। यदि निवारक नज़रबंदी और टाडा के अंतर्गत (निवारक नज़रबंदी के अंतर्गत 53 प्रतिशत की तुलना में) दर्ज किये जाने चाहिए थे। शंकर के अनुसार उनके द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य उन लोगों का पक्ष मजबूत करता है जो ज़्यादा से ज़्यादा काले क़ानूनों के विधायन का विरोध करते हैं।

न्यायाशीध ... एक वार्ताकार के रूप ... चार तत्त्वों, क़ानून का ढाँचा, संस्थात्मक मानक एवं स्मृतियाँ, राजनीतिक प्रभाव तथा जनता के सरोकारों के बीच समझौता करने का प्रयास करते हैं। लेकिन ... क्या इन चारों तत्त्वों के अंदर समान रूप से यह क्षमता होती है कि वे किसी निर्णय को समान रूप से प्रभावित कर सकें? यहाँ सवाल यह भी है कि एक संधिकर्ता या वार्ताकार के रूप में क्या एक न्यायाधीश 'न्याय' के तकाज़े को पूरा कर पाता है?

इस किताब में न्यायिक निर्णयों से संबंधित कई छुए-अनछुए पहलुओं की पड़ताल की गयी है तथा उसे साक्ष्यों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इसकी सबसे बड़ी ख़ासियत यह भी है कि इसमें भारतीय न्यायाधीशों की भूमिका को पश्चिमी न्यायशास्त्र में स्थापित अवधारणाओं से अलग हट कर नये तरह से समझने का प्रयास शामिल है। कुल मिलाकर यह एक बेहतरीन प्रयास है जिसकी कुछ कमियों को छोड़ दें तो इसके ज़रिये न्यायशास्त्र के दर्शन में एक नवीन दृष्टिकोण स्थापित होता है।

संदर्भ

डी.ए. देसाई (1998), 'कंसर्न फ़ॉर सोशल जस्टिस', घनश्याम शाह (सम्पा.) *सोशल जस्टिस : ए डायलॉग,* रावत पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

रॉबर्ट ए. डाह्ल (1957), 'डिसीज़न मेकिंग इन ए डेमाक्रैसी : द सुप्रीम कोर्ट ऐज़ ए नैशनल पॉलिसी-मेकर', *जर्नल ऑफ़ पब्लिक लॉ,* खण्ड 1, अंक 2.

जॉर्ज एच. गेडबॉयज़ जू. (1969), 'इण्डियन सुप्रीम कोर्ट जजेज़ : ए पोर्ट्रेट', *लॉ ऐंड सोसाइटी रिव्यू,* खण्ड 3, अंक 2/3.

शैलश्री शंकर (2009), *स्केलिंग जस्टिस : इण्डियाज़ सुप्रीम कोर्ट, ऐंटी टेरर लॉ ऐंड सोशल राइट्स,* नयी दिल्ली, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

'तीसरी अनुसूची : शपथ या प्रतिज्ञान के प्ररूप', *भारत का संविधान,* 2012 (सातवाँ संस्करण), सेंट्रल लॉ पब्लिकेशंस, इलाहाबाद.